www.thearyasamaj.org

ओ३म्

वार्षिक शुल्क 50/- रु.
आजीवन 500/- रु.
इस अंक का मूल्य 5/- रुपये

आर्य प्रेरणा

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

(आर्यसमाज राजेन्द्र नगर का मासिक मुख-पत्र)

दूरभाष 011-25760006 Website - www.aryasamajrajindernagar.org सम्पादक : डॉ. भारद्वाज पाण्डेय

वर्ष-6 अंक 8, मास अगस्त 2013 विक्रमी संवत् 2070, दयानन्दाब्द 189 सृष्टि संवत् 1960853112

ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त

टी. एल. वास्वानी

दयानन्द शक्तिसम्पन्न व्यक्ति है! अर्वाचीन भारत का ऋषि शक्तियों का केन्द्र है। उसका बल, मेरा विश्वास है कि 'ब्रह्मचय' है।

चौदह वर्ष की अवस्था में ही वह अनुभव करता है कि वह पारिवारिक जीवन के लिये नहीं है। उसे 'राष्ट्र के परिवार' के निर्माता बनने की पुकार सुनाई देती है। वह केवल अपने 'उद्देश्य' के साथ 'विवाहित' हो सकता है! वह साधना के कठोर नियमों का ग्रहण करने आती हैं, वह उनसे कहता है कि:- "विद्या प्राप्त करो। किसी स्वामी या फकीर को अपना गुरु मत बनाओ, तुम्हारे गुरु तुम्हारे पति ही हैं। उनकी सेवा करो और आशीर्वाद पाओ' यह एक उपयोगी शिक्षा है जो स्त्रियों को बहुत से पाखण्डियों से जो गेरुवे वस्त्र पहने हुए अपने को साधु कहते हैं, बचा सकती है। 'दयानन्द का जीवन- पर्यन्त ब्रह्मचर्य अद्भुत है' अथर्ववेद में ठीक ही कहा:-

"जो ब्रह्मचर्य पालन करता है वही आचार्य होता है" ब्रह्मचर्य के साथ-साथ दयानन्द के अन्दर स्त्री जाति के लिये सम्मान है। एक लड़की को वृक्ष के नीचे बच्चों के साथ खेलते देखकर वह उसे प्रणाम करता है और कहता है:- 'वह मातृशक्ति है' प्रत्येक स्त्री में वह माता का लक्षण देखता है और यह उसका स्वप्न था कि कुछ देविया जो वेदों की पण्डिता हों आर्य ऋषियों के सन्देश को भारत की देवियों तक पहुँचा सकें! कैसा सुन्दर स्वप्न है। जिस दिन स्वप्न चरितार्थ होगा, प्राचीन भारत के उस समय का सौन्दर्य फिर यहाँ लौट आयेगा तब कि यह देश न केवल ऋषियों से प्रत्युत गार्गी और मैत्रेयी के समान ऋषि कन्याओं से, जो वेदद्रष्टा ऋषियों में गिनी गईं सुशोभित था।

मेरी सम्पति में ब्रह्मचर्य ही नयी शिक्षा का नये, समाज संगठन, नयी राजनीति, नयी राष्ट्रीयता, और नयी सभ्यता का आधार होना चाहिये। प्राचीन भारत का महत्त्व इस बात में था कि उसे ब्रह्मचर्य की शक्ति में गहरा विश्वास था। हम अथर्ववेद के एक प्रकाशपूर्ण सूक्त में पढ़ते हैं कि "विस्तृत पृथ्वी और द्युलोक,' तथा 'परा' और 'अपरा' विद्या इनकी ब्रह्मचारी अपनी तपस्या से रक्षा करता है। 'ब्रह्मचर्य' का वास्तविक अर्थ पवित्रता, सादगी और आत्मसंयम का भाव है। प्राचीन आर्यावर्त्त में ब्रह्मचर्य की सुन्दर भावना थी और उसने अपनी संस्कृति और सभ्यता के बल को उस दिव्य आत्मा-ब्रह्म के चरणों में समर्पण किया था, आज राष्ट्रों ने इन्द्रियों के आगे अपना समर्पण किया है। ईसा के सम्वत् को दो हजार वर्ष बीत गये। कहते हैं कि उन्नति के दो हजार वर्ष! यह उन्नति बहुत-बहुत वर्षों तक 'मृत्यु के नृत्य' के रूप में हुई है। यह उन्नति 'भोग' है और सभ्यता का भविष्य इन्द्रयों के भोग पर निर्भर नहीं है प्रत्युत साधारण आध्यात्मिक जीवन की शक्ति पर निर्भर है। आत्मा के आदर्श, बल पर आश्रित है।

मैं हर्ष के साथ युवकों से कहूँगा कि ब्रह्मचर्य का अभ्यास करो। हमारे इतिहास में यह साधारण समय नहीं है। यह आराम और चैन उड़ाने का समय नहीं है। आर्यावर्त्त के ऋषि हमें 'आत्मसंयम' और 'आत्मपवित्रता' के जीवन के लिए पुकार रहे हैं जिससे आत्मा की महान् शक्ति 'भारत की स्वाधीनता' के लिए मुक्त हो जावे। छान्दोग्य उपनिषद् के एक प्रसिद्ध वाक्य में उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहते हैं:- "श्वेतकेतो, ब्रह्मचर्य का पालन कर, हमारे परिवार में कोई नहीं हुआ जो ब्रह्मचर्य के बिना है, वह वर्ण से रहित है"। संसार के साहित्य में एक अत्यन्त हृदयग्राही दृश्य महाभारत में भीष्म के अन्तिम समय का है। युद्धक्षेत्र में वाणों की शय्या पर भीष्म पड़ा है! लोग उस के लिये एक कोमल तकिया लाते हैं। वह उसे नहीं लेता, वह

'आर्य-प्रेरणा' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार एवं दृष्टिकोण सम्बन्धित लेखक के हैं। सम्पादक अथवा प्रकाशक का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

www.thearyasamaj.org

महान् ब्रह्मचारी कहता है:- 'कठोर योद्धा के लिए ऊन या रूई के तकिये नहीं चाहियें' तब वह युधिष्ठिर को सम्बोधन कर के कहता है:- हे राजन् सुनो, जो मैं ब्रह्मचर्य के विषय में कहता हूं, संसार में कुछ भी नहीं है वह प्राप्त न कर सके जो जन्म से मृत्यु पर्यन्त ब्रह्मचारी रहा हो, ब्रह्मचर्य के अभ्यास से बहुतों को ब्रह्मलोक की प्राप्ति हुई और बहुतों को इसी लोक में सुख की। अथर्ववेद में आया है "ब्रह्मचारी मनुष्यों में सर्वोपरि है और पृथ्वी पर ज्योतिर्लोक के समान चमकता है" और फिर कहा गया है कि "ब्रह्मचारी आदि में ब्रह्म से उत्पन्न हुआ" अपने को 'तपस्या' के कपड़ों से ढक कर वह तप की शक्ति से खड़ा हुआ। उसी ब्रह्मचारी से वैदिक ज्ञान उत्पन्न हुआ और अमरता से युक्त विद्वान् भी" फिर अथर्ववेद के इस सुन्दर 'ब्रह्मचर्यसूक्त' में दूसरा मन्त्र इस प्रकार है:- "ब्रह्मचारी ही प्रकाशमान ब्रह्म (आत्म शक्ति) को धारण करता है, उस में सारी इन्द्रियाँ प्रोत हैं"।

धर्मपुस्तकों में ब्रह्मचर्य की क्यों इतनी प्रशंसा है? ब्रह्मचर्य ही में शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति का रहस्य है। एक शरीर के रक्तबिन्दु, (Blood corspuscles) जिस में जीवन विद्युत की रक्षा की गई है, जहरीले कीटाणुओं से युद्ध कर सकते हैं, क्या यह बात इसका भी समाधान नहीं कर देती कि ऋषि दयानन्द जहर के असर को जो उन्हें कई बार भोजन या मिठाई में मिला कर दिया गया, कैसे रोक सके? **मनुष्यों की बड़ी संख्या को अभी यह पता नहीं है कि औषधालय की सारी दवाइयों की अपेक्षा 'स्वास्थ्य' और 'रोग निवारण' के लिये ब्रह्मचर्य कहीं अधिक उपयोगी है।** एक नई पुस्तक 'स्वास्थ्य का आध्यात्मिक आधार' (Spirtual basis of Health) में डाक्टर हूकर बतलाते हैं कि चिकित्सा के प्रचलित भद्दे तरीके अब उठते जाते हैं, मैं समझता हूं कि आगामी दिनों में 'ब्रह्मचर्य की जीवनदायक शक्ति को लोग अधिक और अधिक अनुभव करते चले जायेंगे, ब्रह्मचर्य के साथ ही अधिक बल और शक्ति प्राप्त होती है। हमें पता है कि दयानन्द के अन्दर कितनी 'सहन शक्ति' थी। आजन्म ब्रह्मचारी के विषय में कुछ और भी महत्त्व-पूर्ण बात होती है। आश्चर्यजनक रीति पर उसकी मस्तिष्क शक्ति नैसर्गिक बुद्धि और आध्यात्मिक मार्ग में दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति का विकास होता है।

दयानन्द ने अपने उपदेश और उदाहरण से बतला दिया कि ब्रह्मचर्य प्रचलित साधुओं की तपस्या से बिल्कुल भिन्न वस्तु है। छान्दोग्य उपनिषद् की प्रारम्भिक प्रार्थना यह है:- मेरी इन्द्रियाँ पूर्णता को प्राप्त हों, और वेद बल, और शक्ति पर बारम्बार जोर देते हुए एक उच्च सिद्धान्त की शिक्षा देते हैं। वैदिक ऋषि कहता है- हमारी इन्द्रियों को प्रोत्साहित करो, वह ईसाई तपस्वी **'सूसों से'** जो लकड़ी के क्रास को जिसमें कीलें लगी होती थीं अपने कन्धों के बीच में रख अपने क्रास पर चढ़े हुए प्रभु की शक्ति में उसे धारण करता था, कभी सहमत नहीं हो सकता। आर्य ऋषि की इससे विपरीत यह प्रार्थना थी:- मेरी इन्द्रियाँ पूर्णता को प्राप्त हों। और ऋषि दयानन्द ने बतलाया कि शरीर को पीड़ा पहुंचाना ईश्वर की ओर नहीं ले जा सकता। इन्द्रियाँ ज्ञान का द्वार हैं। ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त **'शक्ति'** का सिद्धान्त है। उसके अनुसार शरीर को क्षीण नहीं करना चाहिये प्रत्युत 'उसे संयत, बलवान् और शुद्ध बनाना चाहिये। अन्यथा वह उच्च कम्पनों (Higher vibrations) को कैसे ग्रहण कर सकेगा और क्यों कर विश्व के आध्यात्मिक जीवन का वाहक हो सकेगा? 'मेरी इन्द्रियाँ पूर्णता को प्राप्त हों'! और पूर्ण वृद्धि बिना पवित्रता के नहीं हो सकती। इस सच्चाई को अर्वाचीन युरोप के बहुत से प्रतिभाशाली पुरुषों ने कुचल डाला है। उदाहरण के लिए इटली के कवि को ले लीजिये जो कहता है कि 'जीवन विकीर्ण इन्द्रिय-भोग का ही नाम है" यह 'इन्द्रिय भोग' का सिद्धान्त एक किनारे की 'अति' है जैसी की दूसरी ओर इन्द्रियों से घृणा करने की है। इन्द्रियों आत्मा का प्रकाश और साधनरूप हैं। पार्थिव जीवन अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता यदि वह प्रकृति से घृणा करे और उसे लाभ न उठाये। 'ब्रह्मचर्य, का अर्थ यह है कि हम अपनी इन्द्रियों को शुद्ध रखें, यदि हम उन्हें अधिक खिलाते हैं या भूखा रखते हैं तो परिणाम में निर्बलता होगी, रोग और भ्रम की उत्पत्ति होगी। पतञ्जलि ठीक कहते हैं कि योग उन्हें न सिखाना चाहिए जिनके शरीर स्वस्थ नहीं हैं। धर्म 'स्वास्थ्य' का नाम है।

इन्द्रियों का ब्रह्मचर्य क्या है? इन्द्रियों में प्रथम 'चक्षु' है हम एक बार अनुभव करें कि कितने पाप दृष्टि के कारण होते हैं! "दृष्टि के द्वारा अर्वाचीन पतित अवस्था" इस विषय एक ग्रन्थ लिखा जा सकता है। नृत्य, बाल, (Balls) सिनेमा थियेटर व्यंग्यचित्र, फड़करते हुए उपन्यास इन सबसे कितना पतन होता है! ऋषि दयानन्द ने एक मेरठ के रईस से कहा कि "किन्हीं अश्लील नाटकों को मत देखो और किसी नाच में मत जाओ" इन से नेत्र अपवित्र हो जाते हैं।

इसके बाद 'वाक्य' अर्थात् वाणी है। वाणी पुकार, उच्चारण और शब्द रूप है, इसी के द्वारा पारस्परिक व्यवहार सम्भव है। यह विचार का दूसरा पहलू है। 'वाक् अवश्य पवित्र होनी चाहिए। इसलिए वही बात कहो जिसे तुम सत्य समझते हो। आत्मा की आवाज को रीतिरिवाजों की रूढ़ि से मत दबाओ, सत्य कहो परन्तु वह कड़वा न हो। अपनी वाणी को शुद्ध करो और तुम्हारे शब्दों से शुद्धता प्रकट हो जायेगी। क्या तुमने नहीं देखा है कि एक सच्चे मनुष्य का शब्द किस प्रकार हृदय के प्रति एक विशेष अर्थ को लिए हुए होता है। ऐसी वाणी शुद्ध है, उसमें 'शब्द शक्ति' होती है इसलिए वह हृदय की तन्त्री का स्पर्श करती है।

फिर 'प्राण' का ब्रह्मचर्य है। इसे भी शुद्ध करना चाहिए। प्राण जीवन-वायु श्वास है। बहुधा हम वाणी का संयस कर लेते हैं पर प्राण का नहीं, इसीलिए बुरे स्वप्न आते हैं। ब्रह्मचर्य के विद्यालय में इस प्रकार अपने को शिक्षित करो कि तुम्हारी स्वप्नावस्था, अर्धबोधावस्था भी शुद्ध और पवित्र हो। ऋषि दयानन्द ने कहा 'दिन और रात 'ओ३म्' का जप करो। प्रार्थना करने वाले मनुष्य बहुत कुछ प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि प्रार्थना 'ओ३म्' के जप से प्राणों की शुद्धि होती है और प्रत्येक समय हमारी आकाँक्षा के अनुरूप उत्तर मिलता है।

इसके पश्चात् 'श्रोत्र' अर्थात् श्रवण की इन्द्रिय है। गप्प और व्यर्थ बकवास का सुनना श्रोत्र के ब्रह्मचर्य को तोड़ना है। प्राचीन ग्रन्थों में ईश्वर का नाम सुनने की बहुत

शेष पृष्ठ 4 पर...

www.thearyasamaj.org

सम्पादकीय

✍ डा. भारद्वाज पाण्डेय

श्रावणी उपाकर्म

वैदिक परम्परा में श्रावणी पर्व का विशेष महत्त्व है, क्योंकि यह पर्व वेदों के स्वाध्याय से संबद्ध है। वर्षाकाल में कार्याधिक्य न रहने से यह समय लोग स्वाध्याय में अथवा ऋषि-महर्षियों के निर्देशन में आयोज्यमान बृहद् यज्ञों में सम्मिलित होकर जीवन को धन्यता प्रदान करते थे। वैदिक परम्परा में यज्ञ को सर्व श्रेष्ठ कर्म और स्वाध्याय को सबसे बड़ा धर्म अंगीकार किया गया है। वेदों के स्वाध्याय और विविध यज्ञों के अनुष्ठान से ही ईश्वरीय कृपा और निरन्तर सत्पथ पर बढ़ने का मार्ग दर्शन प्राप्त होता है। इन कर्तव्यों के अनुष्ठान से आत्मा में दिव्य शक्तियाँ जागरित होती हैं। क्योंकि यह यज्ञ ही देवों का आत्मा है। विधिपूर्वक यज्ञानुष्ठान से देव, ऋषि, विद्वान् तृप्त होकर आशीर्वाद देते हैं। जैसा कि महर्षि मनु ने कहा है:-

स्वाध्यायेनार्चयेद् ऋषीन् होमैर्देवान् यथाविधि।
पितृन् श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलि कर्मणा।।

इन याज्ञिक विधियों में संपृक्त जन अपनी और संसार की सब प्रकार की उन्नति करते हैं। ऋषि दयानन्द ने अपने यजुःभाष्य में लिखा है- " जो यज्ञादि से शुद्ध जल आदि पदार्थों का सेवन करते हैं, उनके ऊपर सुख रूपी अमृत की वर्षा निरन्तर होती रहती है।" इसीलिए वैदिक सँस्कृतिक परम्परा में समस्त द्विजों के लिए यज्ञ कर्म को अपरिहार्य कहा गया है। जो इस व्यवस्था का पालन नहीं करता उसे सभी द्विजकर्मों से बहिष्कृत कर देने का विधान है। अतः वेद का स्वाध्याय कर अपने गुण, कर्म, स्वभाव को सतत श्रेष्ठ बनाने के लिए यत्नवान् बने रहना चाहिए। क्योंकि वेद में मनुष्य को मर्यादित रहने और मर्यादा का सर्वथा पालन करने का आदेश दिया गया है। यज्ञ, स्वाध्याय आदि कर्मों को करते हुए मनुष्य स्वयं को सबल बनाता है। इनसे उसके जीवन में दिव्यता आती है। दिव्य गुणों की उच्च स्थिति प्राप्त मनुष्य ही पुरुषार्थ चतुष्टय की सफल सिद्धि करके धन्य हो पाता है। धर्म के जीवन का अभिन्न अंग होते हुए भी उसके पालन, चिन्तन, मनन के लिए इस पर्व पर विशेष अवकाश सहज उपलब्ध होता है। ऋषि परम्परा में स्वाध्यायहीन जन को स्थाणु या शूद्र की उपमा दी गई है। वेद तथा आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा मनुष्य सद्ज्ञान तथा सत्कर्म प्राप्त करके अपने को उत्कर्षता की स्थिति में ला सकता है। प्रायः आर्य समाज में सर्वत्र इस अवसर पर वेद प्रचार सप्ताह या अन्य दीर्घ कालिक कार्यक्रम किए जाते हैं। इन कार्यक्रमों में सोत्साह सम्मिलित होना चाहिए। साथ ही इनके प्रचार-प्रसार द्वारा जन सामान्य को भी इनसे लाभान्वित करने के लिए प्रयतमान होना चाहिए।

अहिंसा

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन् मो अहं द्विषते बधम।। ऋ. 1।50।13

यह वेद-मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 50वें सूक्त का अन्तिम मन्त्र है। इसका अर्थ यह है- **'यह आदित्य परिपूर्ण बल के साथ उदय हुआ है।'** क्या करता हुआ? **'मेरे लिए द्वेषी शत्रु का नाश करता हुआ। इसलिए मैं द्वेष करने वाले का कभी नाश मत करूँ।"** इस मन्त्र का अन्तिम पद तो सब उन्नति चाहने वाले आर्य पुरुषों को कण्ठाग्र याद कर लेना चाहिए। **मो अहं द्विषते रधम्।** (अहं) मैं (द्विषते) द्वेष करने वाले का (माउ) कभी मत (रधम्) नाश करूं। परन्तु मनुष्य के चित्त में शंका पैदा होती है कि मैं द्वेषी का क्यों नाश न करूं? जब वह मुझसे द्वेष करता है, मुझे कष्ट देता है तो मैं कष्ट क्यों न दूं? इसी बात का उत्तर पहिले तीन पदों में दिया है।

मैं इसलिए नाश न करूं क्योंकि संसार में एक आदित्य उदय हुआ। **पूर्ण बल** के साथ उदय हुआ है। और वह द्वेष करने वाले का नाश कर रहा है। यह बतलाने की तो जरूरत नहीं कि इस प्रकरण में वह आदित्य परमात्मा है और उसका पूर्ण बल (विश्वसहः) उसी सर्वशक्तिमत्ता है। वह हिंसा करने वाले का नाश करता है। यह उसका स्वाभाविक गुण है। तो मैं क्यों व्यर्थ में द्वेषी के नाश करने में लगूं? क्योंकि यदि उस द्वेष करने वाले का नाश होना चाहिए तो वह हो रहा है, मैं उसका दण्ड-विधाता बनने के लायक नहीं हूँ। परन्तु बदला लेना, प्रति-हिंसा करना, केवल इस कारण अनुचित नहीं है, इतना भारी पाप नहीं है। यह तो अपना नाश करने वाला है, इसलिए घोर पाप है। नाशकारकता साफ़ है, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् उदित हुआ आदित्य द्वेष करने वाले का नाश करता है। "द्विषन्तं रन्धयन्" वह सदा है। यदि हम द्वेष करेंगे- चाहे हम बदले में करें या स्वयं शुरू करें-वह अपने स्वाभाविक गुण के अनुसार नाश करेगा। यह समझना कि यदि मैं द्वेष करूंगा तो मेरा नाश नहीं होगा बड़े अँधेरे में रहना है। अतः हमें प्रति-हिंसा इसीलिए नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इससे हमारा नाश होता है। परन्तु हमने यह बात नहीं समझी है, इसलिए हमें जो कोई गाली देता है तो हम और बढ़कर गाली देते हैं, जो हमें दुःख देता है हम दाँत पीस-कर उसे और दुःख देना चाहते हैं। जो हमारी कुछ हानि करता है हम उसे जान से मार डालने का यत्न करते हैं। किसी पूर्ण न्यायकारी को अपने ऊपर न देखकर व्यक्ति व्यक्ति का बदला ले रहा है, ईश्वर के पुत्रों का एक समुदाय दूसरे समुदाय से लड़ रहा है और फिर एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का नाश चाह रहा है। कभी भारत में हिन्दू और मुसलमान आपस में एक दूसरे के प्रति-हिंसा कर रहे हैं और कभी बड़े-बड़े राष्ट्र प्रति-हिंसा की इच्छा से इस वसुन्धरा को शत्रु-रूधिर

शेष पृष्ठ 5 पर...

www.thearyasamaj.org

शेष पृष्ठ 2 का...
महिमा बतलाई गई है। आज भी भारत में भिखारी ईश्वर का नाम लेकर भिक्षा माँगते हैं। इसके बाद स्वाद और स्पर्श की इन्द्रियों का संयम आवश्यक है। मसालेदार तथा उत्तेजक भोजन और पेय वस्तुयें ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध हैं। और मांस भोजन भी। मांस खाना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, यह विचार बहुत से भारतीय युवकों में प्रचलित हो रहा है। यह ऐसा विचार है जिसे मैं कभी नहीं समझ सका। मैं इससे विपरीत समझता हूं कि मांस छोड़ देने से स्वास्थ्य की उन्नति होती है। एक फ्रेञ्च डाक्टर पाल कार्टन अपनी पुस्तकः- (Consumption Doomed) में बतलाते हैं कि मांसरहित भोजन 'क्षय' को रोकने और उसे अच्छा करने में कितना सहायक है। सादा भोजन ही स्वास्थ्य का रहस्य है।

फिर 'मन' का ब्रह्मचर्य है। कितने इस का वास्तविक जीवन में पालन करते हैं? दो बातें आवश्यक हैं। अशुद्ध विचारों को अलग रखो और जब तुम्हें 'पवित्रता' प्राप्त हो जावे उसका अभिमान मत करो। सच्चा ब्रह्मचारी नम्र होता है वह 'अनन्त ईश्वर' के सामने अपने 'छोटेपन' को अनुभव करता है।

हृदय का भी ब्रह्मचर्य है। 'प्रेम' दिव्य वस्तु है, परन्तु 'आसक्ति' का नाम नहीं है। यह याद रखना चाहिए कि ब्रह्मचर्य का पालन प्रत्येक आश्रम में यहां तक कि गृहस्थाश्रम में भी करना चाहिए। विवाह का अर्थ ऐन्द्रिबिक स्वछन्दता नहीं है। और हमें 'भोग' और 'सुख' को एक न समझना चाहिए। भोग का मार्ग सुखप्रद मालूम पड़ता है पर उनका अन्त मृत्यु का मार्ग है। अर्वाचीन भारत में सब से अधिक दुःख की बात जीवनशक्ति या मनुष्य की 'उत्पादक शक्ति' की पवित्रता को न समझना है। बालक पतियों और बालिका पत्नियों का हृदयविदारक दृश्य दिखाई देता है! परिणाम क्या है? निर्बल शरीर और असामयिक मृत्यु। हमारी वर्तमान अवस्था प्राचीन धर्मग्रन्थों में बतलाई दशा से कितनी विपरीत हैः- "हे इस संसार के स्वामिन्, हमारे प्राण त्रिगुण आयु तक अर्थात् 300 वर्षों तक बन रहें!" भारत कभी महान् नहीं हो सकता, यदि भारतीय अपने 'बल' अर्थात् शारीरिक शक्ति का अपव्यय करेंगे। धर्म से पुरुष शक्ति' अवश्य बढ़नी चाहिए।

अपनी शक्तियों का अपव्यय मत करो, प्रत्युत अपने शरीर और बल को बढ़ाओ और उसे मनुष्य की सेवा में लगाओ। तुम वैसे ही बनो जैसी हल्की सुन्दर घास होती है- वह नर्म है परन्तु बलवान् है। प्रत्येक इन्द्रिय और मन तथा हृदय को भी शुद्ध रखना चाहिए और ब्रह्मचर्यपूर्वक संयम करते हुए तुम संसार के बढ़ते हुए 'आश्चर्य' को जल्दी अनुभव कर सकोगे। शुद्ध मनुष्य ही 'प्रकृति के सौन्दर्य' और 'जीवन के सत्य' का अनुभव करते हैं। 'निट्शे' ने कहा हैः- 'सदाचार जीवन का और जो कुछ जीवन का आधार है उस सब का सब से बड़ा शत्रु है' इसके विपरीत ऋषि दयानन्द का सदाचार नियम अर्थात् ब्रह्मचर्य के नियम का, जो कि आर्य संस्कृति और आर्यसभ्यता की आत्मा है, वर्णन है। यह प्राचीन ऋषि का दर्शन था जिसने इस सच्चाई का गान किया कि जीवन अत्युच्च अवस्था में 'पुण्य' (Good) के सौन्दर्य के रूपों में फूट पड़ता है। सदाचार ही इस जीवन का हृदय है! ब्रह्मचर्य यथार्थ सत्ता की साक्षात् जड़ को पकड़ता है। पवित्र मनुष्य धन्य हैं क्योंकि वे ही जाति के निर्माता हैं।

आर्य समाज राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली-60

(निकट राजेन्द्र प्लेस मैट्रो स्टेशन) दूरभाष : 25760006

वेद प्रचार, श्रावणी पर्व एवं छात्रवृत्ति वितरण समारोह

शनिवार 24 अगस्त 2013 से बुधवार 28 अगस्त (जन्माष्टमी) 2013 तक

अथर्ववेदीय बृहद् महायज्ञ

शनिवार 24 अगस्त से बुधवार 28 अगस्त 2013 तक

ब्रह्मा : डा. भारद्वाज पाण्डेय जी
ऋत्विक् : आचार्य गवेन्द्र शास्त्री जी, आचार्य कैलाश शास्त्री जी, आचार्य अंकित शास्त्री जी
प्रतिदिन प्रातः : 6:30 से 7:45 तक बृहद् यज्ञ

सायंकालीन कार्यक्रम

भजन : 7:00 से 8:00 बजे तक श्री गौरव शास्त्री जी (दिनांक 24 एवं 25)
तथा दिनांक 26 एवं 27 को आचार्य श्री अंकित शास्त्री जी के सुमधुर भजन होंगे।
प्रवचन : 8:00 से 9:00 बजे तक
युवा वैदिक विद्वान् **आचार्य कैलाश चन्द्र शास्त्री जी** के वेदोपदेश होंगे।

समापन समारोह

बुधवार 28 अगस्त 2013, जन्माष्टमी

प्रात : यज्ञ की पूर्णाहुति : 7:45 से 9:15 तक
ध्वजारोहण : 9:15 से 9:30 तक
प्रसाद वितरण : 9:30 से 10:00 तक
भजन : श्री अंकित शास्त्री जी द्वारा : 10:00 से 10:15 तक

10:15 से 12:30 तक विशेष कार्यक्रम

विषय : आर्य संस्कृति के उन्नायक योगेश्वर श्री कृष्ण और महर्षि दयानन्द
अध्यक्ष : डॉ. भारद्वाज पाण्डेय जी
मुख्य अतिथि : **श्री के.एल. गंजू जी** - राजदूत कामरोस संघ, **श्री सुशील सलवान जी** - शिक्षाविद्
वक्ता : डॉ. महेश विद्यालंकार जी, आचार्य गवेन्द्र शास्त्री जी,
आचार्य कैलाश चन्द्र शास्त्री जी
छात्रवृत्ति वितरण : 12:30 से 01:00 गुरुकुलों के छात्र-छात्राओं को
01:30 : धन्यवाद, शान्ति पाठ एवं प्रसाद वितरण

www.thearyasamaj.org

शेष पृष्ठ 3 का...

से स्रावित करने की तैयारी कर रहे हैं। यह सब दुनिया में क्यों हो रहा है, इसीलिए कि हमें इस वेद-वचन पर विश्वास नहीं। विश्वास नहीं कि दुनिया पर कोई सर्वशक्तिशालिनी सत्ता राज्य कर रही है और वह द्वेष करने वाले का सदा नाश कर रही है। इसलिए हम स्वयं ही द्वेषी को दण्ड देने के बहाने से प्रति-हिंसा में लग जाते हैं और यह भूल जाते हैं कि हम ही इस कार्य द्वारा उस सच्चे शासक के दण्डनीय बन रहे हैं और अपना नाश कर रहे हैं। सच तो यह है कि इस विश्वास के बिना अहिंसक बनना असम्भव है। जिसे परमात्मा के न्याय पर विश्वास नहीं, वह कभी -अहिंसा' धर्मका पालन नहीं कर सकता। इस हिंसाबहुल संसार में जो कुछ 'अहिंसा' के उज्ज्वल पवित्र दृश्य दिखाई देते हैं उनके मूल में यही सत्य विश्वास होता है। संसारग्रस्त लोग कहते हैं कि ऐसे कष्ट सहने से कुछ लाभ नहीं है, परन्तु जो उस आदित्य को उदय हुआ देख रहे हैं वे उनकी बात को कैसे मान लें? उन्हें तो दीखता है कि जो मनुष्य प्रति-हिंसा नहीं करता-हिंसा को सहता जाता है वह अपने को परमात्मा की छत्र-छाया में ले जाता है, उस सर्वशक्तिमान् की सर्व-रक्षक शरण में हो जाता है और जो बदले में तलवार चलाता है वह केवल उस तुच्छ तलवार की शरण में जाता है और उस परमात्मा का अपराधी भी साथ-साथ बनता है। उन्हें तो इतना भारी भेद दिखाई देता है, इसलिए वे 'शत्रु के प्रहार को सहना' ही अपने लिए अतिकल्याणकर समझते हैं।

इतना ही नहीं वे यह समझते हैं कि दूसरों की हिंसा करना उनके वशीभूत हो जाना है और दूसरों से प्रेम करना उसे अपने वश में कर लेना है। 'रध' धातु का अर्थ 'वशगमन' भी होता है यह निरुक्त में कहा है। तो इस मन्त्र का अर्थ होता है कि 'चूंकि आदित्य विश्वसह के साथ, शत्रु को मेरे वश में करता हुआ उदित हो गया है, अतः मैं शत्रु के वश में न होऊँ।' वेद के शब्द कितना गूढ़ अभिप्राय रखते हैं उसका यहां भी एक दृष्टान्त है। आशा है पाठक एक ही शब्द के "हिंसा करना" और "वशीभूत होना" ये दोनों अर्थ होने का सौन्दर्य समझेंगे और जान जायेंगे कि हिंसा में दूसरे के वशीभूत हो जाना होता है वहाँ अहिंसा में कितनी भारी शक्ति दूसरों को अपने वश में करने की और जगत् का महान् कल्याण करने की है।

इसीलिए संसार के उस महापुरुष ने जो कि जगत् में अहिंसा धर्म की स्थापना के लिए आया था अथवा संसार की बढ़ी हुई हिंसा ने जिसे बुलाया था (मेरा मतलब महात्मा गांधी से है) सन् 1923 में चाहा कि यदि बारडोली के भारतवासी निहत्थे खड़े हों और उनके चित्त में अंग्रेजों के प्रति द्वेष का लेश तक न हो, बल्कि वे हृदय से उनकी मंगलकामना कर रहे हों और उन पर अंग्रेजी सरकार की गोलियाँ बरसकर उनके सिर ऐसे फोड़ती जांय जैसे कि फटाफट कच्चे घड़े फूटते जाते हों तो वह दृश्य भारत के लिए बल्कि जगत् के लिए परम-परम सौभाग्य का होगा। ऐसा दृश्य चाहने का बल उसी में आ सकता है जो कि जगत् में सर्वशक्तिमान् आदित्य को काम करता हुआ साक्षात् देख रहा है। सचमुच ऐसा द्रष्टा थोड़े से तोप, बन्दूकों की सहायता के प्रलोभन को छोड़कर सर्वशक्तिमान् की ही अक्षय सहायता को चाहता है। भक्त प्रहलाद को इतने दुःख सहने का साहस था- लगातार अहिंसक रहने का साहस था- तो इसी कल्याणकारी विश्वास के बल पर था। ऋषि दयानन्द को जब जगन्नाथ ने ज़हर खिलाया, तो उन्हें उस पर करुणा उत्पन्न हुई, अन्दर से दया का स्रोत बह निकला। उन्होंने उसे कहा खैर जो कुछ तूने किया, सो किया अब तू यहाँ से चला जा, नहीं तो मेरे भक्त तुझे तंग करेंगे।' भाग जाने के लिए उसे अपने पास से रुपये दिये। ज़हर खाकर उन्हें चिन्ता यह हुई कि जिसने उन्हें मारा है, उसकी रक्षा कैसे हो, उसमें अपने मरने को भी भुला दिया। उस वेद-वचन को समझने वाला ही ऐसा कर सकता है। यह एक कदम और आगे है कि जो हमारी हिंसा करे हम उसकी हिंसा न करें, यही नहीं किन्तु उसकी भलाई करें। यह ऋषि दयानन्द का उपदेश है। क्रोध के स्थान पर करुणा, मारने वाले पर भी दया। सारे जीवन भर जो उन्होंने गालियाँ सुनीं, पत्थर-ईटें खायीं, और न जाने क्या कष्ट सहे यह सब बातें हमें और क्या उपदेश देती हैं। तो क्या दयानन्द के शिष्य 'हिंसक' होने चाहिये, दूसरे का बदला लेने वाले होने चाहिये? दयानन्द का स्मरण कर हमें अपने हृदयों को इतना विशाल बनाना चाहिए कि हम अपने दुःख देने वाले पर दया के अतिरिक्त और कुछ कर ही न सकें। अवश्य ही यह जानकर कि मेरी हिंसा करने वाला अज्ञानी परमात्मा के अटल नियमों का शिकार होगा, उस बिचारे पर दया ही आनी चाहिए, न कि स्वयं क्रोध कर दण्ड का भागी बनना चाहिए। इसलिए इस मास हमें यही वेद का उपदेश है कि-

'हिंसा मत करो'

अपनी हिंसा करने वाले को परमात्मा पर छोड़ दो। हम तो अल्पज्ञ हैं। बहुत बार अपनी भलाई की भी हम तो हिंसा समझ लेते हैं और यदि ऐसे समय भी बदला लेने लगते हैं तो कितनी घोर मूर्खता में पड़े होते हैं। वह सर्वत्र परमात्मा ही सबको ठीक जानता और सबको सदा ठीक दण्ड देता है। यह उसी का काम है। हमें तो अपने हिंसक को परमात्मा पर छोड़ अपनी रक्षा के लिए भी परमात्मा ही की शरण पानी चाहिए। पर आप शायद कहेंगे कि हमें तो विश्वास नहीं होता कि परमात्मा पाप का दण्ड देता है। दयानन्द जैसे महात्माओं को यह विश्वास था अतः वे अहिंसा कर सकते थे। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि विश्वास यों ही किसी को नहीं हो जाता। महात्माओं को भी कर्म करने से ही धीरे-धीरे विश्वास पैदा हुआ होता है। आप भी अहिंसा का पालन शुरू कीजिए, जो आपकी हिंसा करे उसका प्रतिहिंसा में जवाब मत दीजिए। कुछ समय में यदि यह सत्य है तो इस पर अवश्य विश्वास हो जायगा। मैं तो कहता हूँ 'मो अहं द्विषते रधम्' यह वेद की आज्ञा है, इसे स्वतः प्रमाण मानकर अहिंसा का व्रत लीजिए तो थोड़ा-सा अहिंसा पर आचरण करने से आप में इसके लिये थोड़ी-सी श्रद्धा अवश्य उत्पन्न होगी, उस श्रद्धा से आप और अधिक-अधिक अहिंसक बनेंगे

www.thearyasamaj.org

और तब और अधिक-अधिक श्रद्धा बढ़ेगी। यही ठीक है कि व्यवहार में बहुत बार यह पता लगाना कठिन होता है कि अमुक कार्य हिंसा है या अहिंसा। इसके लिए प्रेरक भाव को देखना चाहिए। जो कार्य हम क्रोधवश, बदले के भाव से करते हैं वह हिंसा है। क्रोध एक विकार है। वही किसी कर्म को 'हिंसा' बनाता है। उसके वशीभूत नहीं होना है। यही मुख्य बात है। क्रोध छोड़ने से ही हम अहिंसक बनेंगे। असल में परमात्मा की प्राप्ति को तरफ चलते हुए हमें दिनों दिन अहिंसक ही होना होगा, क्योंकि और सब गुणों की तरह अहिंसा की भी भगवान् पराकाष्ठा है। धर्मों में अहिंसा तो परम धर्म है। योग-शास्त्र में यम-नियमों पर व्याख्या करते हुए व्यास भगवान् ने कहा है कि अहिंसा इन सब का मूल है, अन्य सब धर्म तो अहिंसा को पुष्ट करने के लिए ही बताये जाते हैं। असल में एक धर्म अहिंसा है। इसकी सचाई का अहिंसा के पालन करने वाले को ही पता लग सकता है। आशा है हम इस परम धर्म को आज से अपने जीवन में लाने का सतत यत्न करते हुए अपने जीवन को कृतकृत्य बनायेंगे।

साभार - वैदिक उपदेश माला

"प्रभु!सब तुम ही तो हो"।

बुद्धिजीवी सभ्य समाज, विद्वान, ऋषि, योगी, सन्त और महात्माओं का दृढ़ विश्वास एवं पूर्णतया मानना है कि प्रभु कण कण में बसा है। सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदिमूल परमेश्वर है। ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है। श्रेष्ठ कर्म प्रभु के साक्षात्कार करने में सहायक है। संक्षेप में प्रभु हमारे भीतर विराजमान हैं और हर पल हमारे साथ हैं।

और फिर एक दिन, एक अहसास की, एक नन्ही सी किरण जागी और कुछ-कुछ समझ में आने लगा कि क्यों नहीं देख पाए प्रभु तुम्हें-दिल की धड़कती धड़कन में, नेत्रों की ज्योति में, कानों की श्रवण शक्ति में, वाणी की वाक् शक्ति में, मस्तिष्क की विचार एवं स्मरण शक्ति में, प्रवाहित होते रक्त में, धमनियों और शिराओं में, पाचन तंत्र में, शरीर के एक-एक रोमकूप में, पलकें बन्द होने व पलकें खुलने की क्रिया में, चलने में, सोने में, जागने में, उठने बैठने की क्रिया में, पलकों से बहते आँसुओं में, श्वासों की हर तार में - **"प्रभु! सब तुम ही तो हो"**।

दुःख और पीड़ा से उठती चीत्कार में- शारीरिक चोट हो या मानसिक आघात-उससे उठने वाला बेशुमार दर्द-फिर कोई अपने परोपकार से दर्द की दवा कर दे जिससे आराम और विश्राम का अहसास हो, दीनता, असहायता, बुलन्द हौंसलों में, शक्ति और सामर्थ्य में, कर्मवीर की कर्मठता में, होठों की मुस्कान में, खुशी से झूमते मन के भाव और मीठे स्वप्नों में- **"प्रभु! सब तुम ही तो हो"**।

माँ की ममता में, पिता के दुलार में, गुरुजनों के स्नेह-फटकार-दुआएं व आशीर्वाद में, वीरता की हुंकार में, भीतरी टूटन और घुटन में, वियोग का कटु अहसास और फिर संयोग की मधुरता में, भीतर के श्रृंगार में, उत्थान और पतन में, जय और पराजय में, भय और अभय में, मधुरता और कर्कशता में, सृजन और विसर्जन में, ज्ञान-विज्ञान में, आशा-निराशा में, अँधियारा-प्रकाश, रूप, यौवन, रस गन्ध और स्पर्श में, जीवन के उल्लास, उत्साह और उमंग में, मृत्यु के शोक में - **"प्रभु! सब तुम ही तो हो"**।

भीतर से उठती हर प्यास-चाहे जल की हो या ज्ञान की, प्रेम की हो या स्नेह की- प्यास से जन्मी आकुलता और व्याकुलता, प्यास के बुझ जाने पर सुख, चैन, आनन्द और मानसिक शान्ति, शीतल बयार, पहाड़, झरने, बरसात की रिमझिम, कौंधती बिजली, ज्वार भाटों में, आकाश में छाई घनघोर घटाएं, सागर का श्वास पानी, कल-कल करती हुई नदियां, शान्त लहरों में - **"प्रभु! सब तुम ही तो हो"**।

मालिक सारी कायनात का, फूलों भरी क्यारियों का, पत्तियों के रंगों में और उनकी अलग-अलग सुगन्ध में, औषधियों की संजीवनी शक्ति में, तारों की टिम-टिम जमात का, पक्षियों के उड़ान व कलरव में, धरती की उर्वरा शक्ति में, सूर्य के ताप और प्रकाश में, चाँद की शीतलता में, फूल और फल में, बीज़ से अंकुर फूटने और उससे वृक्ष बनने तक की यात्रा में - **"प्रभु! सब तुम ही तो हो"**।

प्राणिमात्र की सम्पूर्ण कामनाओं को प्रतिक्षण पूर्ण करने वाले, अपने आँचल में अविचल शान्ति और आनन्द समेटे हुए, शाश्वत सुख और अभिलषित पदार्थों के प्रदान करने वाले, स्वार्थ और संकीर्णता की क्षुद्र एवं मलिन भावनाओं से रहित, दीनातिदीनों के मध्य में विचरने वाले, सदैव हमारी बुद्धियों को प्रकाशित करने वाले, हमें सत्कर्मों की ओर प्रेरित करने वाले, हम सब ओर से सर्वदा सुख की वृष्टि करने वाले, समस्त दुर्गुण-दुर्व्यसन और दुःखों को दूर करने वाले, शरीर आत्मा और समाज के बल के देने हारे, मुनष्यादि-गौ आदि प्राणियों के शरीर की रचना करने वाले, लोक-लोकान्तरों को मानयुक्त देने वाले, सम्पूर्ण लोकमात्र-नाम-स्थान-जन्मों को जानने वाले, सम्पूर्ण प्रज्ञान-उत्तम कर्म प्राप्त कराने वाले, वैदिक संध्या, यज्ञ की अग्नि, मधुर गायन, मेरे समर्पण में - **"प्रभु! सब तुम ही तो हो"**।

हर वो अहसास, वो भाव-जिसे

देख नहीं सकते, जिसे छू नहीं सकते और सिर से पांव तक – **"प्रभु! सब तुम ही तो हो"**। फिर भी प्रत्यक्ष रूप से तुम्हारा आभास क्यों नहीं महसूस कर पाते? पानी में रहकर मछली प्यासी क्यों? प्रभु! तुम्हारी यह माया का आवरण तो नहीं? मैं तुमसे अलग कुछ भी नहीं हूँ फिर भी तुमसे अलग हूँ। मेरी मिलने की चाह और तुम्हारी मजबूरी, प्रभु कब तक? बताओ तो सही? जब जब मैं अपने अन्दर और बाहरी जगत में झाकता हूँ तो – **" प्रभु! सब तुम ही तो हो"**।

सदियों से पूर्णता-परम पिता परमात्मा की खोज में मारा-मारा भटकता हुआ आखिरकार थक कर अपूर्णता का अहसास करता हूँ। हे परम पावन प्रभो! मैं नित्य प्रति, उठते बैठते, सोते जागते, तेरे ही गीत गाता रहता हूँ कि शायद किसी दिन "ईश" मेरे सामने आ जाएं तो मेरी जन्म-जन्म की प्यास की तृप्ति हो जाए और मैं तुम्हारे निर्मल चरण-शरण की शीतल छाया में बैठ कर तुम्हें दिल खोलकर निहार सकूँ। मुक्कमल दीदार होने के पश्चात् ही प्रिय ओ३म् ओ३म् रटते हुए इसे क्षण भंगुर शरीर को छोडूँ और हमेशा-हमेशा के लिए प्रभु मैं तुम्हारे चरणारविन्दों में तुम्हारा दिया हुआ जीवन तुम्हें अर्पित कर दूँ। हे प्रभु! अपने आशीर्वादों की वर्षा करें और मुझे अपनी चरण सेवा में लेकर कृतार्थ करें।

फिर मैं कौन, कुछ भी तो नहीं, मेरे जीवन का लक्ष्य – **"प्रभु! सब तुम ही तो हो"**।

– रमेश भम्बानी

– गतांक से आगे

THE VEDIC LIGHT

DIVINE LANGUAGE

(Swami Vidyanand Sarswati ji)

Even while some scholars accept the knowledge contained in the Vedas to have been revealed, yet they hold the view that the language in which they were transmitted to posterity was that of the Rishies.

The fact remains that language and thought are inter-dependent, for there can be no thought without language and can be no language without thought. Language is the vehicle of thought. Even when we think without speaking, we think in words and sentences – generally in the mother –tongue. In fact we think in names. Words are the fortress of thought. Thinking and speaking are so entirely one that one can distinguish them as internal and external. If thinking is silent speaking, speaking is loud thinking. Unless thought be accompanied at each point of its evolution by a corresponding evolution in language, its further development will be arrested. Language and intellect cannot be separated.

We thus arrive at the conclusion that even the language, in which the Vedas were revealed, was also Divinely revealed. Without language it is impossible to conceive philosophical, nay, even human consciousness. Similarly, every word and its meaning are also inseparable. The Mahabhashya (patanjali's commentary on paninis' Astadhyayee) says -नित्ये शब्दार्थ सम्बन्धे औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः (1-1)।

Or, as we read in kalidasa's Raghuvansha वागर्थाविवसम्पृक्तौ वागर्थ-प्रतिपत्तये (1-1)।

Thus when the words cow and horse were transmitted by God, they were accompanied by the pictures of cow and horse.

Many impartial philologists and linguists now unequivocally admit that Sanskrit is the mother (neither aunt, nor sister) of all the important languages of the world (For elaboration, see author's original Habitat of the Aryans). It (Vedic language) comprises of philosophy compared with which the lessons of Pythagoras are but of yesterday (in point of time as well as in point of speculation).

The Vedic language is known for the derivative interpretation of words. Even in modern (classical) Sanskrit a words is invariably explained as being made up of a root and a prefix or suffix which together yield the form as well as the peculiar meaning assigned to a given word. Usage also does not deviate from this main principle, but it is still probable that it restricts a word to one of its many significations. In that case a particular word used in a passage

www.thearyasamaj.org

R.N. DEL BIL/2007/22120
DL (C)-14/1181/2011-2013

Date of Posting 12 & 13, S.R.T. Nagar, ND-55
Date of Publication 8-8-2013

ओ३म्

will have to be translated according to the convention then probable so that the particular restricted sense may be clearly expressed. Is it believable that the Vedic language, which is so perfect and is the mother of all the language of the world, is the result of any human effort? It is the Divine language= देववाणी - the most regular language known especially remarkable as containing the roots of the various language of the world. The large number of languages, which are said to have their origin –or bear close affinity – to Sanskrit is truly astonishing and is another proof of the letters high antiquity. At one time Sanskrit was the one language, spoken all over the world.

Our Lord has provided us with a Divine speech as a vehicle to communicate and receive ideas. While this speech is man's special privilege. But it is a very poor vehicle which has its own limitations. In a set language of limited vocabulary we have to express our thoughts of gross and abstract realms both. Sugar is sweet in a bio- chemical sense, voice is sweet or music is sweet in another sense, one's face is sweet in another way; and our relations are sweet in some other connotations. Each and every sweetness has its own spectrum. But our vocabulary is poor, so that at times we fail to express our ideas or sentiments just as we would like to.

MORALITY

Alfred Wallace, co-discover of the Theory of Evolution, writes in his book 'Social Environment and moral Progress' –

"In the earliest records which have come down to us from the past, we find ample indications that the accepted standards of morality, and the conduct resulting from these were in no way inferior to those which prevail today, though in some aspects they did differ from ours. The wonderful collection of hymns, known as Veda, is a vast system of religious teachings as pure and lofty as those of the finest portions of the Hebrew Scriptures. We must admit that the mind which conceived and expressed in appropriate language such ideas as are everywhere present in these Vedic hymns, are in no way inferior to those of the best of our religious teachers and poets- to our Shakespeare. Milton and Tennyson."

Where is the scope for a social evolution, if the teachings of the Vedas which are decidedly the oldest books in the library of mankind are found to be as lofty and pure?

It is evident then that the higher up towards the source of religion we push our enquiries, the purer, and the simpler do we come to find the Vedic conception of God; and as we come down the stream of time, the more corrupt and complex do we find it. The inevitable conclusion, therefore, is that the development of religious thought in India has been uniformly downward, and not upward – that of deterioration, and not of evolution. We are thus justified in concluding that these higher and purer conceptions of the Vedic Aryans were the results of a primitive divine Revelation.

– क्रमशः

आर्य प्रेरणा के सभी सुधी पाठकों को रक्षाबन्धन, श्रावणी, स्वाधीनता दिवस एवं श्रीकृष्ण जन्माष्टमी पर्व की हार्दिक शुभकामनाएँ।

उत्तराखण्ड पीड़ित सहायता

आर्य समाज राजेन्द्र नगर नई दिल्ली द्वारा विगत दिनों उत्तराखण्ड में आई भीषण तबाही से त्रस्त परिवारों को राहत सामग्री प्रेषित की गई है। जिसमें प्रचुरमात्रा में शाल, कम्बल, मोजे, गरम टोपियां तथा खाद्य सामग्री शामिल है। यह सत्प्रयास समाज के यशस्वी प्रधान श्री अशोक सहगल जी एवं कर्मठ मन्त्री श्री सतीश मैहता जी के पुरुषार्थ से सम्भव हुआ। उक्त सारा सामान श्री सतीश कुमार जी एवं श्री रमेश भम्बानी जी द्वारा देहरादून स्थित तपोवन आपदा प्रबन्धन केन्द्र में दिया गया।

Printed and published by Sh. N.M. Walecha Secretary on behalf of Arya Samaj, Rajinder Nagar and printed at Gurmat Printing Press, 1337, Sangatrashan, Pahar Ganj, New Delhi-55 Ph. : 23561625 and published at Arya Samaj, Rajinder Nagar, New Delhi-110060. *Editor* : Dr. Bhardwaj Pandey